बेजुबानी जुबान हो जाए...

राजेन्द्र यादव

स्त्री का अपना 'घर' नहीं होता। घर बाप का होता है, पति का होता है या बाद में बेटे का होता है—वह यहां सिर्फ मेहमान या शरणार्थी होकर रहती है। चूंकि वह आर्थिक या भौतिक रूप से पराश्रित है, इसलिए जानती है कि ग़ैर-ज़रूरी या असुविधाजनक होने पर किसी भी दिन उसे यह घर या संसार छोड़ना पड़ सकता है। उसके लिए बेहद ज़रूरी है कि वह दूसरों के इस घर में अधिक से अधिक उपयोगी बनकर रहे। उसकी सारी कोशिश होती है कि इसी पराए घर को अपना मानकर ही अपने जीवन की सार्थकता सिद्ध करती रहे।

दलित जिस मंदिर का एक-एक ईंट रखकर निर्माण करता है, वह मंदिर ख़ुद उसका नहीं होता। विडंबना यहां भी यही है कि मूल-स्रोत होने के बावजूद, परिवार भी स्त्री का अपना नहीं होता; वह भी बाप, पति या बेटे का ही होता है। हां, उसकी मर्यादा और हितों की रक्षा वह जान देकर भी करती है। वह उस परिवार की इज़्ज़त होती है, मगर इस इज़्ज़त की परिभाषा परिवार का केंद्रीय पुरुष तय करता है—जिसके पीछे धर्म, संस्कृति, वंश और रक्त की परंपराएं

होती हैं। वह जन्मदात्री है, मगर वंश पिता के नाम पर चलता है और बेटा ही वंशधर कहलाता है। परिवार की बनावट एक सामंती दुर्ग की तर्ज़ पर की जाती है, जिसे हर 'बाहरी' हमले से बचाकर रखना होता है। अगर दुर्ग का हर सदस्य निष्ठावान, समर्पित और चौकस नहीं होगा तो बाहरी हमले या भीतरी विद्रोह उसे नष्ट कर देंगे। वस्तुतः सामंती समाज इन पारिवारिक-दुर्गों की द्वीप-शृंखला से बना होता है। इन दुर्गों के नियंत्रण और सुरक्षा की बागडोर भले ही पुरुषों के हाथों में हो, बोझ सारा स्त्री के कंधों पर ही होता है। उसका कर्तव्य है कि दुर्ग के हर सदस्य के स्वास्थ्य, भोजन और क्षमता को बनाए रखने की व्यवस्था में ढील न आने दे; वंश-परंपरा चलाए रहे। वह अधिकारहीन कर्तव्यों की गौरवशाली प्रतीक है : वह अन्नपूर्णा है। उधार के अधिकारों का वह उसी सीमा तक प्रयोग कर सकती है जितने की अनुमति गढ़-स्वामी उसे सौंपता है—या जो परिवार के लिए असुविधाजनक नहीं होते। उसे कही या अनकही सख़्त हिदायत होती है कि अपना सारा जीवन और संसाधन वह सिर्फ़ परिवार के संवर्धन और संरक्षण में लगाए रखेगी। कर्तव्यों में ज़रा-सी भी ढील उसे न केवल सारे अधिकारों से वंचित कर सकती है; बल्कि उसे फ़ालतू बोझ की तरह ठिकाने भी लगा सकती है। उसके सम्मान की एकमात्र शर्त है परिवार के प्रति उसकी निष्कंप वफ़ादारी.. .वह हर सांस में भगवान से परिवार की कुशल-क्षेम के लिए प्रार्थना करती है, व्रत-उपवास और तपस्या द्वारा अपना होना सिद्ध करती है। उसकी हर पूजा पति-पुत्र के लिए कृतज्ञता-ज्ञापन है। इन्हीं की सेवा में प्राणोत्सर्ग करने वाली स्त्री, देवी की तरह पूजी जाती है क्योंकि संसार के सारे स्वर्ग उसके चरणों में होते हैं। वह हर भारतीय स्त्री का रोल-मॉडल होती है।

सामंती-परिवार में स्त्री का न नाम होता है, न चेहरा। हो सकता है पिता के घर वह किसी पुरानी देवी या पिता के नाम से पुकारी जाती हो, मगर उसके 'अपने परिवार' में उसका नाम ठीक वैसा ही होता है जैसा जेल में क़ैदी का नंबर। गांव, घर या परिवार में उसके स्थान के संदर्भ और आसंग ही उसके नाम तय करते हैं। चेहरे की जगह होते हैं, घूंघट, बुर्के या अंधेरी कोठरियों की चलती-फिरती छायाकृतियां। उससे उम्मीद की जाती है कि बाहरवालों को न उसका चेहरा दिखाई दे, न आवाज़ सुनाई दे। उसका कार्यक्षेत्र बिस्तर से रसोई तक ही सीमित है।

नाम की तरह स्त्री की कोई जाति भी नहीं होती। वह पति के जातिवाचक नाम से ही पहचानी जाती है। कल तक कुमारी श्रीवास्तव शादी के बाद श्रीमती शुक्ला या सिंह हो जाती है। आश्चर्य यह भी है कि घर-परिवार हो जाने के बाद वह उसी नई जाति के संस्कार और स्वार्थ आत्मसात करने लगती है—यहां तक कि वह स्वीकार नहीं करना चाहती कि पहले उसकी जाति श्रीवास्तव थी।

जाति ही नहीं, स्त्री का अपना कोई धर्म भी नहीं होता। धर्म भी पुरुष का होता है। न जाने कितनी स्त्रियां, दंगों में या स्वेच्छा से दूसरे धर्म में गई हैं और वे वहीं की होकर रह गई हैं। मुसलमान घर में गई स्त्री दस बीस साल में खांटी मुसलमान हो जाती है। गीतांजलिश्री की कहानी 'बेलपत्र' में पति-पत्नी के बीच अपने-अपने धर्म का आग्रह विवाह टूटने तक आ जाता है। मगर ज़्यादातर औरतों को नया धर्म अपनाने में कोई दिक्कत नहीं होती और मोनिका मिश्रा हबीब तनवीर के साथ आकर मोनिका तनवीर हो जाती हैं या इरफ़ाना, शरद जोशी के साथ इरफ़ाना शरद के नाम से जानी जाती है।

कहते हैं भाषा में ही मनुष्य का अस्तित्व है। भाषा अभिव्यक्ति के स्तर पर आने से पहले व्यक्ति का संस्कार, स्वभाव और प्रकृति बन चुकी होती है। यहां विडंबना यह है कि जिस भाषा के साथ स्त्री सबसे अधिक एकाकार होती है और हमेशा 'चबर-चबर' करती है, वह भाषा भी उसकी अपनी नहीं होती। मेरी मां यवतमाल या अमरावती की थीं और मराठी के सिवा कोई भाषा नहीं बोल पाती थीं। मगर

जब आगरा आईं तो दस साल में ही उस भाषा को बिल्कुल भूल गई जिसमें उन्होंने 16-17 साल सांस ली थी। भरतपुर के वैर कस्बे में रहनेवाली रांगेय राघव की मां सिर्फ ब्रज भाषा ही बोल पाती थीं—मातृभाषा तमिल वे बिल्कुल ही भूल गई थीं। शायद इसीलिए कहते हैं कि बच्चे और स्त्रियां जितनी आसानी से दूसरी भाषाओं में सहज हो जाते हैं, पुरुष नहीं हो पाते। मैं दस साल कलकत्ता में रहकर भी बंगला बोलना नहीं सीख पाया। वहां जो धड़ल्ले से बंगला बोल लेते थे, वे भी अपनी मूल भाषा को सुरक्षित रखे हुए थे।

इसीलिए मुझे लगता है कि अपने निजी मुहावरों के बावजूद स्त्री की अपनी कोई भाषा नहीं होती। वह भी मर्द की ही होती है जो स्त्री को शक्ति संपन्न होने का स्थायी भ्रम देती है। चूंकि भाषा में शक्ति-सत्ता के सारे मुहावरे और शब्द मर्दवादी होते हैं और जो स्त्री को दी जाने वाली गालियों, या अपमानजनक वक्तव्यों तक जाते हैं, स्त्री उन्हें ही अपनी भी भाषा बना लेती है : वह भी अपने बेटे को डांटती है "क्या औरतों की तरह रो रहा है?, तू क्यों डरेगा, तू क्या लड़की है?" चूड़ियां या साड़ी पहनने के ताने देनेवाली औरत जब धड़ल्ले से 'मादरचोद', 'बहनचोद' जैसी गालियों का इस्तेमाल करती है तो उसे सपने में भी ध्यान नहीं होता कि वह अपना ही अपमान कर रही है। सुनते हैं पुलिस-ट्रेनिंग में स्त्रियों को भी मर्दानी गालियां देने का अभ्यास कराया जाता है ताकि अपराधी को उसकी हैसियत बताई जा सके...मर्दों जैसी भाषा का इस्तेमाल करके स्त्री अपने 'ज़नानेपन' से मुक्त होकर मर्दों जैसी ताकतवर होने का प्रभाव डालती है—विशेषकर दूसरी औरतों पर...सुनते हैं फूलनदेवी अपने दल के डाकुओं को प्रेरित करती थी कि वे शिकार औरतों के साथ उसके सामने बलात्कार करें। बहरहाल, भाषा के माध्यम से स्त्री अपने-आप से टूटकर 'दूसरी' बनती है—वह स्त्री वेश में पुरुष होती है—यानी हिजड़ा...स्त्री-विमर्श का सबसे जटिल पहलू यह है कि उसे पुरुष-भाषा के वर्चस्व में ही अपनी बात कहनी है क्योंकि उसकी अपनी कोई भाषा नहीं है जो है उसे कोई सुनना, समझना नहीं चाहता। इसलिए वह अपने आपसे ही बातें करती है। दूसरे या तो उसे पागल समझते हैं या उस पर हँसते हैं—सिर्फ अपनी बात कहने वाली स्त्री आगे जाकर या तो 'चुड़ैल' कहलाती है या डायन...

यह है आदर्श भारतीय नारी की संपूर्ण तस्वीर...ऋषि उसका गुणगान करते हैं और देवता उस पर फूल बरसाते हैं, *कल्याण* जैसी पत्रिकाएं विशेषांक निकालती हैं। ज़ाहिर है अपने पुराण और धार्मिक विश्वास न स्त्री की इस छवि को बदलने देते हैं, न 'परिवार' किसी ऐसी स्थिति या विचार के प्रवेश का जोखिम उठा सकता है जो स्त्री-दमन की चली आती मर्यादाओं में विघ्न डाले। चूंकि स्त्री एक फ्लोटिंग इकाई है और उसे एक घर से दूसरे घर जाना होता है, इसलिए नए परिवार के अनुसार अपने को ढालने का उसे अभ्यास हो जाता है। वह हर घर में चैखव की 'डार्लिंग' है। वह हर उस पहचान-हीन पहाड़ी नौकर की तरह है जिसका नाम 'बहादुर' होता है। एक बहादुर गया तो दूसरा आ गया।

इस तरह कह सकते हैं कि स्त्री का न अपना घर है, न परिवार, न नाम है न पहचान, न उसकी कोई जाति है, न धर्म, न उसकी भाषा अपनी है, न भूषा—उसे सबकुछ पुरुष ने ही दिए हैं—अगर वह इस सबको अस्वीकार कर दे तो उसका अपना कहने को कुछ भी नहीं है 'अपना कुछ न होने' की कचोट उसे संचय लिप्त बनाती है। वह सबकुछ को समेटे रखना चाहती है क्योंकि जानती है कि उसका कुछ नहीं है। मगर यहीं से उसकी शक्ति का अन्वेषण शुरू होता है। वह सच्चे अर्थों में सर्वहारा है, गुलामी के सिवा उसके पास कुछ भी खोने के लिए नहीं है। वह एक निर्विशेष, निरूपाधि नंग-निहंग ऐसी इकाई है जिसे शुद्ध 'मानवी' कहा जा सकता है, इसीलिए वह ऐसी बहती नदी है जिसके पानी को किसी भी पात्र में डाला जाए, वह अपने पात्र के नाम से ही जानी जाती है। यहीं से वह अपनी निजी यात्रा शुरू

कर सकती है, और खंड-खंड में करती भी है क्योंकि उसकी सारी स्वतंत्रता छीनकर ही तो बदले में यह सब दिया गया है। उसके पास कुछ न हो, मगर देह और मन तो उसके अपने हैं। उन्हीं को लेकर अपने फ़ैसले ही उसे मुक्ति की नई राह दिखाएंगे। यह उसके अपने ऊपर है कि इस दिए गए को कितना छोड़ या अपनाकर वह अपनी रणनीतियां बनाती हैं।

और सचमुच यह यथास्थिति हज़ारों साल इसी तरह बनी रहती अगर स्त्री के पास बुद्धि और सौंदर्य न होते... सौंदर्य स्त्री के लिए वरदान भी है और अभिशाप भी। सुंदर और स्वतंत्र स्त्री, पुरुष के लिए चुनौती है। लोलुप-पुरुष हर कीमत पर उसे पाना ही नहीं चाहता, बल्कि हर संभव तरीके से उसे जीतकर परिवार की गुमनामियत में डाल देता है। स्त्री उसका 'शिकार' है। जीती गई स्त्री का सौंदर्य पुरुष की निजी मिल्कियत है, उस पर दूसरों की निगाह किसी भी हालत में बर्दाश्त नहीं की जाएगी। सौंदर्य स्त्री के व्यक्तित्व को स्वतंत्र पहचान देता है और यह स्वतंत्रता पुरुष की हेठी है। परिवार और पर्दे के पीछे भी यह सौंदर्य स्त्री की विशेष या निर्विशेष हैसियत का स्रोत है। हर स्त्री अपने सौंदर्य की शक्ति को पहचानती और कौशल से इसका इस्तेमाल करती है। जो जितने बंधनों में है, वह उतना ही स्कीमिंग (तिकड़मी) भी है। उसे हर क्षण तलवार की धार पर चलना होता है। चाल ज़रा भी डगमगाई कि गए...पुरुष की तुलना में स्त्री की आर्थिक और शारीरिक कमज़ोरी उसे और भी चौकस-चौकन्ना बनाए रखती है। वह अधिक से अधिक कल्पनाशील होती जाती है। बेवकूफ़ से बेवकूफ़ व्यक्ति भी शेर से अपने को बचाने की तरकीबें जानता है। परिवार की अंदरूनी राजनीति उसे कुशल रणनीतिकार बनने का प्रशिक्षण देती है, जिनका इस्तेमाल वह अवसर मिलने पर बाहरी दुनिया के दाव-पेंचों के लिए भी करती है। न जाने कितनी स्त्रियां रही हैं जिन्होंने पर्दे के पीछे से बाहरी दुनिया पर शासन किए हैं। मगर सच है कि स्त्री की बुद्धि की पहचान तभी हुई है जब भौतिक कारणों से वह पुरुष के अंकुश से मुक्त हुई है। परिवार और देश चलाने वाली स्त्रियां वे ही रही हैं जिन्हें अपने कार्यों का हिसाब किसी मालिक को नहीं देना होता। या जो अपने फ़ैसले खुद ले पाई हैं।

स्त्री-देह का कोई एक मालिक या संरक्षक नहीं होता तो वह सार्वजनिक संपत्ति या सार्वजनिक सुविधाओं का पर्याय हो जाती है—पुंश्चली और वेश्या। हर कोई उसे दाम देकर या मुफ़्त में 'भोग' सकता है। इस तरह अपने आपको बेचना उसकी मजबूरी है। मगर जैसे ही स्त्री की देह को सार्वजनिक किया जाता है, या वह उसे स्वयं सार्वजनिक करती है—वैसे ही सभ्यता और संस्कृति के ठेकेदार हाय-तौबा मचाने लगते हैं। सारी भारतीय संस्कृति, सभ्यता, धर्म और इतिहास स्त्री-देह को ढंकने-उघाड़ने पर ही टिका है। परिवार हो या देश, दोनों की मर्यादा, सम्मान और गरिमा को स्त्री देह के माध्यम से तोड़ा या बचाये रखा जाता है। दुश्मन बदला लेने के लिए उसके साथ बलात्कार करते हैं। उसे गाली देना प्रतिशोध का सबसे आसान हथियार है। इसके लिए न जाने कितनी जानें ले ली या दे दी गई हैं।

सौंदर्य यानी अपनी देह से स्त्री का संबंध बेहद जटिल है; वह उसके प्रभाव को भी जानती है और परिणाम को भी। उसी के लिए वह मारी भी जा सकती है और सिंहासन पर भी बैठाई जा सकती है। भयंकर संकटों से मुक्ति के तरीके भी वह उसी के बल पर निकाल सकती है। यातना व्यक्ति को खंडित करती है, स्त्री भी दोस्तोयव्स्की के 'डबल' की तरह द्विखंडिता बन जाती है। वह अपनी देह से बाहर भी है और उसके भीतर भी। वह योगियों की तरह उसे साक्षी भाव से देख सकती है और भोगियों की तरह अंग-अंग में उसे महसूस भी कर सकती है। संस्कृत में स्त्री को 'अंगिनी' या 'रमणी' कहा गया है—यानी वह सिर्फ़ देह में स्थित है। उसकी पहचान भी उसके अंगों के नाम से ही की जाती है—सुभगे, सुमुखि, सुनयना आदि...उसे परिवार या पुरुष बचपन से 'देह-चेतन'

बनाते रहते हैं—यह प्रशिक्षण या कंडीशनिंग इतने बारीक और अचूक होते हैं कि वह स्वयं भी अपना संपूर्ण अस्तित्व देह के संदर्भों से ही परिभाषित करती है। देह को सजाये-संवारे रखना हर स्त्री की शख है। यह चौबीसों घंटे उसे ही लीपती-पोतती रहती है। स्त्री के कपड़ों और शृंगार-पटार की सामग्री के लिए करोड़ों-अरबों के उद्योग चलते हैं, करोड़ों को जीविका मिलती है। उसकी एकमात्र योग्यता उसकी देह हैं; उसी को लेकर भाषा के सारे सौंदर्य-मूलक शब्द हैं तो उसी के लिए वीभत्सतम गालियां भी। सारे कामशास्त्र उसकी देह को अनुशासित करने के हथकंडे बताते हैं—सारे कवि और कविराज स्त्री-देह को लेकर ही ऑब्सैस्ड (आतंकित) रहे हैं। पुरुष की पहली सार्थकता ही स्त्री-देह को जीतना और उसे सिर्फ अपनी संपत्ति और पुत्र की मां बनाना है। वह उसे हीरे-जवाहरात की तरह लूटता है। सारे विजेताओं ने हाथी-घोड़ों, धन-दौलत के साथ स्त्री को भी माले-ग़नीमत, यानी लूट का माल मानकर अपने हरम सजाये हैं, उन्होंने ही ज़र, ज़मीन और ज़न को झगड़े की जड़ बताया है।

देह के साथ 'देह की भाषा' स्त्री का दूसरा सबसे बड़ा हथियार है। बंदिशों के बीच संकेतों और प्रतीकों में वह अपनी निजी और अचूक भाषा विकसित कर लेती है। शब्दों का कितना धारदार और प्रभावी इस्तेमाल किया जा सकता है, यह स्त्री से अधिक कोई नहीं जानता। छोटी-सी पारिवारिक दुनिया के ईर्ष्या-द्वेष, स्वार्थ और सरोकार उसे हमेशा आत्मकेंद्रित या युद्ध की मानसिकता में बनाए रखते हैं—और इन्हें वह भाषा से साधती है क्योंकि परिवार में उसकी हैसियत अपने पुरुष से ही तय होती हैं, इसलिए उसे बाहरी हमले विफल करने और अपने पुरुष के मन को जीतना होता है। परिवार में वह सिर्फ युद्ध कला ही नहीं सीखती, एक गहरा बहनापा भी सीखती है। गुलाम होने का साझा दुख (कॉमन सफरिंग) दो स्त्रियों को आपस में जोड़ता है। एक-दूसरे से अपने मन और शरीर की बात कहकर वे जीने का बल अर्जित करती हैं। प्रसूति जैसी स्थितियों में या दूसरी ज़नानी हारी-बीमारियों में उसे हमेशा दूसरी स्त्री की सहायता की ज़रूरत पड़ती है। द्वेष और दुख की द्वंद्वात्मकता उन्हें आपस में संवाद-सेतु बनाए रखने की प्रेरणा देती हैं। यहीं वह हमारे लिए यानी समाज के लिए अपनी भाषा का 'आविष्कार' करती है।

दमन और असुरक्षा के भय के बीच अपने मन की बात कहना स्त्री-मनोविज्ञान की एक दूसरी जटिल स्थिति (फ़िनोमिनन) है। अपने गीतों और स्वगत-कथनों में वह निजी बात को भी लगभग सबकी बात के रूप में ही व्यक्त करती है; ताकि वह 'पकड़ी' न जा सके। उसके सारे गीत सिर्फ़ अपनी व्यथा-कथाओं की करुण अभिव्यक्तियां हैं। यहां उसकी कल्पनाशीलता नए-नए प्रसंगों के आविष्कार के रूप में सक्रिय रहती है। पुरुष की कृपा की भीख मांगती या उससे वंचित स्त्री की दुख गाथाएं लगभग हर स्त्री के जीवन में इतनी समान हैं कि पुनरावृत्तियों की एकरसता से ग्रस्त हैं : इसे पुरुष ने नाम दिया है—'विधवा-विलाप' या औरत की बड़बड़। हारी हुई स्त्री झगड़ालू और लड़ाकी हो जाती है। यह उसका व्यक्तिगत विद्रोह है।

मगर इस 'विलाप' को शब्द देना स्त्री का पहला विद्रोह है—यथास्थिति की घुटन में छटपटाना ही मुक्ति की प्रेरणा भी बनता है। अधिकारहीन कर्तव्यों की जवाबदेही, स्त्री होकर जन्म लेना, काली-गोरी, लंबी, ठिगनी, बांझ या सिर्फ़ पुत्रियों की मां होना, शुभ-अशुभ के ठप्पे या सुहागिन-विधवा होने जैसे अनेक अनकिए अपराधों की सज़ाओं की निरंतरता उसे हमेशा हीन, लाचार दयनीय और अपराधी होने की मानसिकता में बनाए रखते हैं। वह अपनी भाषा में इसी के दुखड़े रोती है। बोलकर या लिखकर इन आत्मोक्तियों में जब वह अपनी पारिवारिक या सामाजिक दुर्दशाओं के विवरण देती है तो अपनी नियति के ख़िलाफ़ विद्रोह भी कर रही होती है क्योंकि इन सबके पीछे स्थितियों के बदलने की आकांक्षा भी होती है। बाबा साहब अंबेडकर ने कहा है कि गुलाम का अपनी

गुलामी के प्रति अहसास ही प्रतिरोध की पहली शुरुआत है...इन आत्मोक्तियों के बहाने स्त्री अपनी नस-नस में बसे भय को भी जीतना चाहती है...निजी वेदना और भय शब्दों में व्यक्त होकर दूसरों के साथ संवाद बनाते हैं। व्यक्तिगत असंतोष, सामाजिक समस्या के रूप में व्यापकता ग्रहण करता है। स्त्री-चेतना की पहली आत्माभिव्यक्तियां उसकी अपनी वेदना के ऐसे प्रार्थना-पत्र हैं जिन्हें वह हिचकते और डरते हुए पुरुष-दरबार में दया की भीख की तरह प्रस्तुत करती है। इस मालिक को वह 'भगवान' का पर्याय भी बना देती है। वही तो उसके भाग्य का नियंता है।

प्रेम और वेदना स्त्री को मुक्त करते हैं। मीरा और महादेवी की तरह पुरुष उसका अदृश्य प्रेमी भी हो सकता है और निराकार भगवान भी। बल्कि कहना चाहिए धर्मान्ध समाज में ईश्वर स्त्री का पहला प्रेमी होता है। प्रारब्ध की तरह दी हुई स्थितियों में परिवार से अलग प्रेमी का 'चुनाव', उसकी अपनी मुक्ति का पहला उद्घोष है। सामाजिक जकड़नों के बीच अनकहे ही अपना प्रेमी चुन लेना स्त्री को अपने होने या स्वतंत्र-अस्तित्व के आदिम-स्वाद से परिचित कराता है। देह-सुख से अधिक मुक्ति के इस स्वाद के पुरस्कार स्वरूप कभी उसे सामाजिक लांछन भुगतने पड़ते हैं तो कभी मृत्युदंड...प्यार के लिए अनगिनत प्रेमिकाओं को संगसार होना पड़ता है। उन्हें मार भले ही दिया गया हो, मगर लोक-मानस में वे आज भी अमर प्रेमकहानियों की तरह सुरक्षित हैं।

एक स्थिति में अपने आपसे बातें करना स्त्री का रिलीफ़ है। परिवार और समाज के लोग स्त्री के इन आत्म-प्रलापों पर या तो हंसते हैं, या उसकी उपेक्षा करते हैं। लेखन उसके आत्मकथन का उदात्तीकरण करता है। स्त्री की हर आत्मकथा अपनी यातनाओं की ऐसी निजी दास्तान है जो घर-घर में घटित होती है। पुरुषों की आत्मकथाएं उनके निजी संघर्षों की विजय गाथाएं हैं। विपरीत और विषम स्थितियों से लड़ता हुआ पुरुष अपना अद्वितीय व्यक्तित्व गढ़ता है—वह किसी दूसरे व्यक्ति की कहानी नहीं हो सकती। हां, उसकी संकल्प-शक्ति और जिजीविषा औरों के लिए प्रेरणा बन सकती है। प्रेरणा स्त्री का संघर्ष भी बनता है, मगर उसकी कहानी हर दूसरी स्त्री की कहानी भी है। उसके संघर्षों के स्वरूप, उसके बनने-टूटने के आख्यान भी लगभग एक जैसे हैं, इसीलिए दलितों की आत्मकथाओं की तरह वहां अपमानों, संघर्षों और संकल्पों की पुनरावृत्तियां होती हैं—मगर स्त्री की आत्मकथा, समाज और परिवार की उन भीतरी सचाइयों से साक्षात्कार है जिनकी चुभन जूते की कील की तरह सिर्फ़ पहननेवाला ही जानता है।

भय स्त्री का स्थायी भाव है : दूसरों द्वारा मूल्यांकन किए जाने का भय, सौंदर्य के न रहने का भय; पुरुष की निगाहों से उतर जाने का भय, दूसरी स्त्री के अधिक सुंदर होने का भय, अपनी शारीरिक अक्षमता का भय, इज़्ज़त का भय, बलात्कार का भय, सामाजिक सम्मान का भय, बूढ़े होकर फ़ालतू हो जाने का भय...स्त्री के भय के अनगिनत रूप हैं जो उसके खून की एक-एक बूंद में भरे हैं। यह भय या आशंकाएं उसे ईर्ष्यालु और कुटिल भी बनाते हैं। इस भय और असुरक्षा में वह अधिक से अधिक पज़ैसिव और लालची होती जाती हैं। उसकी कल्पनाशीलता कभी अपने पुरुष को दूसरी स्त्री की बांहों में देखती है तो कभी अपने बच्चे को सड़क पर ट्रक से कुचला हुआ। उसकी यह कल्पना इतनी जीवंत होती है कि वह इसे 'देख' कर रो और हंस सकती है। कल्पना, सपनों और स्मृतियों की अनरीयल दुनिया में बने रहकर सुखी या दुखी होते रहना स्त्री का प्रिय शग़ल होता है। कल्पना और स्मृति उसकी दो सबसे बड़ी शक्तियां हैं—और यही कला या लेखन के प्राण-तत्व हैं। इन दोनों पंखों पर स्त्री दीन-दुनिया की सैर सकती है, मगर जब इस अवास्तविक दुनिया से वापस नहीं लौट पाती तो पुरुष उसे पागल करार देकर पीछा छुड़ाना चाहता है। झक्की और शक्की

स्त्री परिवार के लिए समस्या है। असुरक्षा और भय उसे अन्धविश्वासी और धार्मिक बनाते हैं। बाबाओं की भीड़ में स्त्री-भक्तों की संख्या सबसे अधिक होती है—वह उसकी आउटिंग भी है और सुरक्षा की खोज भी।

अपनी बात कहकर स्त्री अपने भीतर के उस भय को जीतती है जिसे परिवार और समाज ने हज़ारों सालों में उसके असुरक्षित अस्तित्व का पर्याय बना दिया है। हर स्त्री-कथा एक दमन कथा भी है और विद्रोह कथा भी। दमन और विद्रोह उसकी कहानी को विविधता और इनके नए रूपों को जानने का रोमांच देते हैं। स्त्री का दमन उसकी देह और उससे जुड़े मन को लेकर है, इसलिए हर स्त्री-कथा देह-कथा भी है। यह देह-कथा अपने प्रति ग्लानि और गर्व दोनों को मिलाकर बनती और बढ़ती है—कि कैसे देह के बावजूद और देह के साथ उसने अपने व्यक्तित्व के दूसरे पहलुओं का अनुसंधान किया। स्त्री का पहला एकमात्र हथियार और कवच उसकी देह ही है। उसका अतिक्रमण मुक्ति की दूसरी स्टेज है।

हर आत्मकथा हमारे जैसे ही किसी व्यक्ति की कथा हो सकती है, हम उससे जुड़कर अपने संघर्षों के पार जाने की प्रेरणा ग्रहण करते हैं। मगर स्त्री की कथा किसी 'दूसरे' की कथा है—वह हमसे अलग किसी और नक्षत्र का अनुसंधान है। पुरुष के लिए स्त्री-कथा 'वोयूरिज़्म' (गोपनकक्षों में ताक-झांक) का सुख भी देती है। अपने से अलग स्त्री की यानी 'दूसरे' की देह को देखना पुरुष-मन की दुर्दमनीय आकांक्षा रही है, मगर जब मंच पर स्त्री यह देह दिखाती है तो वहां प्रदर्शन की भावना होती है। बाथरूम में वह अपनी देह को अपनी तरह देखती है—इस 'देखने' में भी कहीं पुरुष की अदृश्य लोलुप निगाहों की कल्पना होती है—उसके अनजाने ही उसे 'देखना' पुरुष के अपने होने के अहं को कन्फ़र्म (पुष्ट) करता है। पता नहीं, पुरुष स्त्री को देखता है या देखे जाते हुए अपने आप को देखता है। स्त्री की आत्मकथा कितनी भी निजी हो, वह कहीं आत्मप्रदर्शन भी है ही। प्रदर्शन की चेतना दृश्य को न सहज स्वाभाविक रहने देती है, न निर्व्याज—वहां कहीं अतिरंजना का तत्व भी स्थितियों को घटाता-बढ़ाता रहता है। बहरहाल, हर आत्माभिव्यक्ति प्रदर्शन है और हर प्रदर्शन अतिरंजना।

लगभग डेढ़-सौ सालों में अंग्रेज़ों ने हमारा एक मध्यवर्ग तैयार किया था। हमने उनके माध्यम से इंग्लैंड और यूरोप के भाषा और साहित्य का परिचय पाया। उन्होंने भाषा के साथ अपने साहित्य, कला की समझ और सौंदर्यशास्त्र भी दिए। यानी उन्होंने वे सारे हथकंडे अपनाये जो उपनिवेश को भीतर और बाहर से गुलाम बनाने के लिए अपनाए जाते हैं। हम गीत भले ही अपनी महान संस्कृति के गाते रहे हों, साहित्य की नई समझ अंग्रेज़ों की ही देन थी। हमने लाख उनकी तरह लिखने की कोशिश की, मगर 'उनमें से एक' नहीं बन पाए। हम उनकी भाषा, कला या काव्यशास्त्र का प्रयोग तो करते थे, मगर उस लेखन की संवेदना, स्थितियां, समस्याएं तो हमारी थीं—हमारी यानी एक गुलाम देश की। हम उन्हीं की भाषा में अपने आपको समझ रहे थे। ठीक यही इतिहास स्त्री-लेखन में दुहराया जा रहा है। वहां भाषा हमारी है, मगर कथ्य उनका। वे 'दूसरा' होने की शर्म से नहीं; गर्व से इसे अपनी अस्मिता का नाम देती हैं। मध्यवर्ग के हज़ारों रईस और अफ़सर थे जो ज़िंदगीभर दंड पेलते रहे कि अंग्रेज़ उन्हें अपने में से एक मानें, उन्हीं की तरह का खान-पान, रहन-सहन, बोली-बानी के बावजूद वे कभी अंग्रेज़ों के रूप में स्वीकृत नहीं हुए। यहां तक कि अपने भारतीय बच्चों को उन्होंने अलग ही नाम दिया—ऐंग्लोइंडियन। दो पीढ़ियां लगीं यह समझने में कि वे जो हैं, सो हैं, और उसी होने से उन्हें समझौता करना पड़ेगा, वहां अपनी मुक्ति स्वयं तलाश करनी होगी। इस अर्थ में स्त्री पुरुष का उपनिवेश भी है और उससे मुक्त होने की प्रक्रिया भी। विडंबना यह है कि पुरुष उस तरह 'बाहरी' उपनिवेशी नहीं है जैसे अंग्रेज़ थे। वह हममें से ही एक है।

दलितों की तरह स्त्रियों की प्रारंभिक रचनाएं, चाहे

वे आत्मकथ्य हों, कविता-कहानी हों या दूसरी अभिव्यक्तियां, जेल से भागे हुए कैदियों की व्यथा-कथाएं ही हैं। उनका बोलना ही जेलर की अत्याचार कथाओं के विवरण देना है—पहले डरते-डरते और बचाकर और फिर खुलकर वे अपने नियंत्रकों के चेहरे उजागर करती हैं। कोई स्त्री अपनी पहली अभिव्यक्तियों के समय नहीं जानती कि यह उसका विद्रोह है और कुल मिलाकर एक व्यापक बहस का हिस्सा है। अधिकांश पुरानी लेखिकाएं अपनी रचनाओं को स्त्री-विमर्श मानने से इनकार करती हैं। शायद वे सोचती हैं कि ऐसा मानकर वे अपनी 'दयनीयता' और 'दूसरा होने' की स्थिति/नियति को स्वीकार ही करेंगी। उनका आग्रह होता है कि उन्हें भी पुरुषों जैसा ही माना जाए। कम से कम लेखन के क्षेत्र में स्त्री-पुरुष का भेद न किया जाए। यह संत कवियों का वह भोला विश्वास है कि भगवान की निगाह में सब बराबर हैं। वे यह भूल जाते थे कि ग़ैर-बराबरी भगवान नहीं, व्यवस्था तय करती है। वही इस नियति को बदल भी सकती है। इसलिए पुरुषों जैसा ही मानने या अपने को पांचवां सवार घोषित करने के उनके इस 'भ्रम' (बैड-फ़ेथ) से उनकी स्थिति में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। अनगिनत घटनाओं और उदाहरणों के विश्लेषण से ही सिद्धांत निकाले जाते हैं—हो सकता है ऊपर से देखने में उनमें आपस में कोई समानता न हो। विज्ञान और विचार का विकास इसी तरह हुआ है। मज़दूरों के एकल और सामूहिक विद्रोह न जाने कब से होते रहे हैं, मार्क्स ने उनके आर्थिक और सामाजिक कारणों और परिणामों का विश्लेषण करते हुए उन्हें बदलने की अपनी सैद्धांतिकी का विकास किया। सेब और दूसरे फल पहले भी गिरते रहे थे, हज़ारों सालों बाद न्यूटन को वहां एक सिद्धांत दिखाई दिया। द्रोपदी, मीरा और आडियाल भी नहीं जानती थीं कि वे स्त्री-विमर्श की नींव तैयार कर रही हैं...स्त्री-विमर्श भी बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही आया। यह स्त्री-इतिहास और वर्तमान को एक स्वतंत्र 'अस्मिता' देता है। जब तक शोषण, संघर्ष और उनसे मुक्ति के स्वप्न मनुष्य के साथ हैं, तब तक न मार्क्सवाद ख़त्म हो सकता है, न स्त्री-दलित विमर्श—नाम उन्हें कुछ भी दिए जाते रहें। यह भी सही है कि स्त्री-मुक्ति की लड़ाइयां ट्रेड-यूनियनें बनाकर नहीं लड़ी जातीं—मगर यह भी सही है कि मुक्ति की यह चेतना परिवार और बेड-रूम तक पहुंच रही है।

स्त्री की मुक्ति पूरे समाज की मुक्ति है क्योंकि मुक्ति कभी अकेले नहीं मिलती...